

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का सांस्कृतिक अवदान: आलोचनागत सन्दर्भ में

राम गोपाल चतुर्वेदी

प्रवक्ता, बाला प्रसाद कुशवाहा इण्टर कालेज, बलरामपुर, बरेठी, प्रयागराज, उत्तर प्रदेश, भारत

प्रस्तावना

भारतीय दर्शन पर प्रकाश डालते हुए डॉ. राधाकृष्णन अपने पुस्तक कि भूमिका में लिखते हैं— “यद्यपि संसार के बाह्य भौतिक स्वरूप में, संचार—साधनों, वैज्ञानिक आविष्कारों आदि की उन्नति से बहुत अधिक परिवर्तन हुआ है, किन्तु इसके आन्तरिक आन्तरिक आध्यात्मिक पक्ष में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ। क्षुधा एवं अनुराग की पुरातन शक्तियाँ और हृदयगत निर्दोष उल्लास एवं भय इत्यादि मानव प्रकृति के सनातन गुण हैं। मानव—मष्टिक के इतिहास में भारतीय विचारधारा अपना एक अत्यन्त शक्तिशाली और भावपूर्ण स्थान रखती है। महान विचारकों के भाव कभी पुराने नहीं होते। प्रत्युत वह उस उन्नति को जो मिटती—सी प्रतीत होती है, सदैव सजीव प्रेरणा देते हैं। कभी—कभी अत्यन्त प्राचीन भावमय कल्पनाएँ हमें अपने आधुनिक रूप के कारण अचम्भे में डाल देती हैं क्योंकि अन्तर्दृष्टि आधुनिकता के ऊपर निर्भर नहीं करती।”¹

यह सच है कि भारतीय संस्कृति परम्परा, साहित्य, धर्म—दर्शन, जातीय स्मृति और जातीय अस्मिता के विभिन्न सोपानों से गुजरती हुई अनेकता में एकता ग्रहण किये हुए विविधता में एकता और समानता का बेजोड़ समन्वय बनाए हुए है। सभ्यता और संस्कृति के अर्थ पर्याय कभी—कभी एक मान लिए जाते हैं परन्तु उनकी सीमाएँ और विस्तार अलग अलग हैं। अपने आचार व्यवहार में विनम्र और मृदुभाषी व्यक्ति सभ्य हो जाता है लेकिन उसमें सर्जनात्मक क्षमता का अभाव है या सौन्दर्यबोधात्मक अभिरुचियों की कमी है तो वह सुसंस्कृत नहीं है। ललित कलाएँ, साहित्य, संगीत, चित्र, मूर्ति, वास्तु कलाएँ आदि संस्कृति को संवर्धित करती हैं इसमें सर्वग्राह्य मानवीय आन्तरिकता की काल्पनिक अभिव्यक्ति होती है, जो आदमी के सौन्दर्यबोध को जागरूक और संवेदनाओं को परिष्कृत करती रहती है पर यह जरूरी नहीं सभ्यता के विकास के समानांतर संस्कृति का भी विकास होता चले। प्रायः यह देखा गया है कि सभ्यता की अविकसित मंजिल पर श्रेष्ठ संस्कृति का सृजन हुआ है।² हिंदी साहित्य जगत में आचार्य शुक्ल का आगमन एक भारतीय चिंतन परम्परा का मुखरित स्वर है, इन्होंने साहित्य के विभिन्न विधाओं पर गंभीर और मौलिक चिंतन से भारतीय सिद्धांतों और मतों के आलोक में साहित्य जगत को समृद्ध किया। आचार्य शुक्ल आलोचक, निबंधकार, अनुवादक, संकलनकर्ता, सम्पादक आदि रूपों में साहित्य की सेवा कर एक नवीन परम्परा का सृजन कर भारतीय चेतना को नयी गति प्रदान की। आलोचक के व्यावहारिक और सैधान्तिक दोनों पक्षों पर इनकी पुस्तकें इस प्रकार हैं —

गोस्वामी तुसलीदास (1923), जायसी ग्रंथावली (1929),
भ्रमर गीतसार (1925), रसमीमांसा (1949), चितामणि भाग
1 और 2 में संकलित निबंध।

आचार्य शुक्ल ने साहित्य आलोचना में वस्तुवादी दृष्टिकोण से

सामाजिक विकास, मान्यताओं, सिद्धांतों, मतों, पुराने प्रतिमानों का अध्ययन कर उन्हें विश्लेषित किया। अपने आलोचनात्मक प्रतिमानों के निर्माण और निर्धारण के लिए वे सीधे रचना के पास जाते हैं, रचना एवं सामाजिक व्यवहार के आधार पर अपने प्रतिमानों को व्यवस्थित करते दिखाई देते हैं।³ आलोचना को गुण—दोष से अलग कर वे रचनाकार की विशेषताओं और उनकी अन्तः वृत्तियों की छानबीन की तरफ ध्यान देते हैं। आलोचना की आलोचकीय प्रतिभा को रेखांकित कर वे लिखते हैं— “उच्च कोटि की समालोचना के लिए विस्तृत अध्ययन, सूक्ष्म अन्वेषण बुद्धि और मर्म ग्रहिणी प्रज्ञा उपेक्षित है।”⁴ स्वयं आचार्य शुक्ल में इन तीनों तत्वों का अद्भुत समन्वय था। कृतियों के मुल्यांकन और विश्लेषण पद्धति पर आचार्य शुक्ल भारतीय दृष्टिकोण के हिमायती हैं। हमें अपनी दृष्टि से दूसरे देशों के साहित्य को देखना होगा, दूसरे देशों की दृष्टि से अपने साहित्य को नहीं।⁵ आत्म—चिंतन, नैतिकता और स्वाभिमान से युक्त भारतीय साहित्य को पाश्चात्य साहित्य और उनकी आलोचना पद्धति का अन्धानुकरण और अंध भक्ति को नकारते हुए साहित्यिक विधाओं के सृजन पर बल देते हुए कहते हैं — “पश्चिम के काव्यकला सम्बन्धी प्रचलित वादों में अक्सर एकाग्रदृष्टि कि दौड़ ही विलक्षण दिखाई पड़ती है।⁶ आचार्य शुक्ल के इसी मुखर आलोचना के सम्बन्ध में रामविलास शर्मा के शब्दों में कहें तो — “हिंदी साहित्य में शुक्ल जी का वही महत्व है जो उपन्यासकार प्रेमचंद या कवि निराला का। उन्होंने आलोचना के माध्यम से उसी सामन्ती संस्कृति का विरोध किया जिसका उपन्यास और कविता के माध्यम से प्रेमचंद और निराला ने। शुक्ल जी ने न तो भारत के रूढ़ीवाद को स्वीकार किया न ही पश्चिम के व्यक्तिवाद को। उन्होंने बाह्य जगत और मानव जीवन की वास्तविकता के आधार पर नए साहित्य की स्थापना की और उसके आधार पर सामन्ती साहित्य का विरोध किया तथा देशभक्ति और जनतंत्र की साहित्यिक परम्परा का समर्थन किया।”⁷

प्राचीन भारतीय समीक्षादर्श के मूल रसवाद को आध्यात्मिक भूमि से अलग मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर नए ढंग से परिभाषित और वर्गीकृत कर अधिक पूर्ण और विश्वसनीय बनाकर हिंदी आलोचना को समृद्ध किया। चिंतन के विवेकपूर्ण कसौटी पर कसकर जीवन की क्रिया भूमि पर काव्य की भावभूमि को परखकर समीक्षा को वैचारिक और व्यावहारिक धरातल पर स्थापित किया। अपनी दृष्टि या भारतीय दृष्टि के सम्यक बोध के लिए उन्होंने नाट्यशास्त्र, काव्यादर्श, काव्यालंकार, अभिनव भारती, काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक, दशरूपक, काव्यमीमांसा, इतिहास दर्पण, रस तरंगिणी, रसगंगाधर आदि अनेक ग्रंथों का अनुशीलन किया।⁸ इससे आपके दृष्टिकोण में भारतीय रस सिद्धांत को पुष्टता मिली तथा वे रस को साहित्य के अभिन्न तत्व के रूप में देखते हैं। रस की परिभाषा करते हुए शुक्लजी कहते हैं कि — “जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है।⁹ आचार्य शुक्ल ने इसको अलौकिक नहीं माना बल्कि रस को लोक हृदय में लीन होने वाली कसौटी पर रखकर

लोकहित और लोकमंगल की अवधारणा से संकुचित व्यक्तिवाद और स्वार्थ मनोरंजन से अलग कर, सामाजिक जीवन का अंग बनाने में अपनी आस्था स्थापित की। उन्होंने रस को काव्य की आत्मा मानकर वास्तविक जगत के यथार्थ धरातल पर स्थापित किया। सामाजिक हित और लोक संग्रह से प्रेरित आचार्य शुक्ल ने व्यक्ति की अपेक्षा समाज को, अलौकिक की अपेक्षा लौकिकता को, आध्यात्मिक की अपेक्षा भौतिकता को, अव्यक्त की अपेक्षा व्यक्त को, निर्गुण की अपेक्षा सगुण को, रहस्य की अपेक्षा सामान्य अनुभूति को, सूर की अपेक्षा तुलसी को, छायावादी रहस्यवादियों की अपेक्षा स्वच्छतावादियों को अधिक प्रासंगिक मानते हैं।

हिंदी साहित्य में स्वतंत्र विचार और बहुवस्तुस्पर्शनी प्रतिभा से इतिहास को वैज्ञानिक पृष्ठभूमि प्रदान करके इसे जनता की चित्तवृत्ति से जोड़कर यह मत दिया—जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनितिक समाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के अनुसार होती है अतः कारणस्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित दिग्दर्शन भी साथ ही साथ आवश्यक होता है।¹⁰ काल विभाजन और युगीन प्रवृत्तियों के विश्लेषण में युगीन गतिविधियों के आधार पर युगीन कार्यकलापों का मूल्यांकन करते हैं। वे शास्त्र और जीवन अनुभव के यथार्थ को जगत के वास्तविकता की कसौटी पर रखकर युक्तिपूर्ण विचार करते हैं।

आचार्य शुक्ल आदर्श और यथार्थ के विरोधी तत्त्वों को स्वीकार नहीं करते; उनकी दृष्टि में आदर्श वह है जो यथार्थ को व्याख्यायित करे। वे जीवन के शाश्वत मूल्यों पर जितना अधिक बल देते हैं उतना ही वर्तमान युगीन संदर्भों पर। आचार्य शुक्ल ने तुलसी के भक्ति-भाव को सांसारिक व्यापार और क्रियाकलाप पर प्रतिष्ठित किया। ईश्वर को लौकिक आधार धरातल पर स्थापित करने वाले लोकरंजन और लोकमंगल को उन्होंने महत्वपूर्ण माना। उन्होंने कहा— मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है, उसकी अपनी सत्ता का ज्ञान लोकबद्ध है।¹¹ वे जगत के व्यापारों में जीवन को प्रभावित करने वाले सभी स्थितियों को स्वीकार करते हैं। आचार्य शुक्ल का लोक, लोकमंगल है और यह लोकमंगल लोकधर्म पर आधारित है, लोकधर्म रामाचरण है तथापि मनुष्य की मनुष्यता और वृत्तियों की रसक गुण से युक्त लोकमंगलकारी स्वरूप के सम्बन्ध में कहते हैं— “लोकमंगल मानव जीवन के सामाजिक विकास की वह अवस्था है जिसमें एक व्यक्ति दुसरे व्यक्ति का खाद्य नहीं बनता, निर्बल सबल का आहार नहीं बनता जिसमें केवल सबल की पूजा नहीं होती, वरन् प्रत्येक मनुष्य के उदात्त गुणों तथा प्रवृत्तियों का सर्वाधिक मूल्याङ्कन होता है।¹²

आचार्य शुक्ल ने जीवन के भावों और मनोविकारों को साहित्य भाव जगत से सम्बद्ध कर सामाजिक व्याख्या की। समस्त मानव जीवन के प्रवर्तक भाव और मनोविकार ही होते हैं।¹³ उत्साह, करुणा, लज्जा और ग्लानि, लोभ और प्रीति, घृणा, इर्ष्या, भय, क्रोध, श्रद्धा-भक्ति आदि विषय पर जीवन की अनुभूतिपरक बहुमुखी व्याख्या कर सामाजिक भूमि पर साहित्य के भाव और जीवन के भाव में समन्वय स्थापित किया। आचार्य शुक्ल ने वस्तुवादी चिंतन के आलोक में तर्कपूर्ण सामाजिक मान्यताओं के आधार पर सामन्तवाद और साम्राज्यवाद की बर्बरता का विरोध किया। डॉ. रामविलास शर्मा के शब्दों में— “आचार्य शुक्ल हिंदी प्रदेश की पददलित और अपमानित जनता के सम्मान के रक्षक थे। विरोधियों से ज्यादा बहस में न पड़कर उन्होंने हिंदी आलोचना को समृद्ध करने का बीड़ा उठाया।.....एक पराधीन देश में जातीय सम्मान की भावना एक साम्राज्यविरोधी क्रांतिकारी भावना है।¹⁴

संदर्भ सूची

1. राधाकृष्णन, सर्वेपल्लि, भारतीय दर्शन, पृ.सं.— 01, भूमिका
2. सिंह, बच्चन, आधुनिक हिंदी आलोचना के बीज शब्द, पृ.सं.— 130-131.

3. मधुरेश, हिंदी आलोचना का विकास, पृ.सं.— 48.
4. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ.सं.—313.
5. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, काव्य में अभिव्यंजनावाद, चिंतामणी भाग— 2, पृ.सं.—189.
6. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ.सं.—308.
7. शर्मा, रामविलास, रामचन्द्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, पृ.सं.—27
8. तिवारी, रामचन्द्र, हिंदी आलोचना और शिखरों का साक्षात्कार, पृ.सं.—51
9. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र रस मीमांसा, पृ.सं.—03.
10. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र चिंतामणी भाग—1, पृ.सं.—82.
11. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ.सं.—03
12. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र चिंतामणी भाग—2, पृ.सं.—135.
13. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र चिंतामणी भाग—1, पृ.सं.—05.
14. शुक्ल आचार्य रामचन्द्र, रामचन्द्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, पृ.सं.—178.